।। दंसण मूलो धम्मो।।

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

सम्पादक : रामजी माणेकचन्द दोशी वकील

वर्ष छठवाँ
अंक चौथा

६४

श्रावण
२४७६

ज्ञानी का विरोध अज्ञानी न करे तो कौन करे?

हे जीव! तीन लोक के ज्ञानियों का यही कहना है कि तू त्रिकाल ज्ञायक स्वतन्त्र है, परमात्मा जैसा है, उसे समझकर वैसा हो। अनन्तकाल में अपने को न समझा, इसी से जगत् में परिभ्रमण हुआ है। आत्मा को न समझनेवाले ज्ञानी के समक्ष पुकार करते रहते हैं, परन्तु ज्ञानी तो जगत् के समक्ष सत्य घोषित करके अपना कल्याण करके चले गये। ज्ञानी का विरोध अज्ञानी न करे तो कौन करे? अज्ञानी कहते हैं कि 'हमारी मानी हुई सारी बातों क उत्थापन करते हों, यह द्वेष नहीं है?' ज्ञानी कहते हैं कि भाई! सत्य का स्थापन करने से असत्य का निषेध सहज ही होता है, उसमे द्वेष नहीं परन्तु सच्ची करूणा है। तुम न समझो तो भी प्रभु हो! सत्य का विरोध करनेवाले भी सब स्वभाव से प्रभु हैं। वे जब स्वयं सीधे होकर समझेंगे, तब सारी विपरीतता का क्षणमात्र में दूर करने की सामर्थ्यवाले हैं। ज्ञानी किसी व्यक्ति का निषेध नहीं करते, परन्तु मिथ्या-मान्यता का निषेध करते हैं, उसमें जगत के समस्त प्राणियों पर करुणा है। वे जानते हैं कि जिनकी दृष्टि मिथ्याग्रह में है, वे स्वयं समझें तभी सुधर सकते हैं। इसलिए वे कहते हैं कि – 'तेरी शुद्धता तो बड़ी, लेकिन तेरी अशुद्धता भी बड़ी।' साक्षात् तीर्थङ्कर भगवान भी तुझे नहीं समझा सकते; तेरी पात्रता के बिना मुझे कोई नहीं सुधार सकता।

एक अंक
चार आना

अनेकान्त मुद्रणालय : मोटा आंकड़िया

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

इस अंक के लेख

१- महावीर भगवान के आत्मा का जीवन
२- धर्मी जीव क्या कार्य करता है?
३- श्री सद्गुरु - उपदेश (कविता)
४- मुमुक्षुओं को सेवन करने योग्य दो साधन

आपने पढ़ी?

जिसमें जैनधर्म के गहरे आध्यात्मिक रहस्य को मार्मिकरूप से विस्तारपूर्वक समझाया गया है, पूज्य श्री कानजी स्वामी जिसे 'जैन-गीता' का उपनाम देते हैं, जिसके स्वाध्याय से अनेकानेक जिज्ञासु उल्लासपूर्वक अत्यन्त आश्चर्यनिमग्न हो गये हैं, और प्रत्येक जिज्ञासु पाठक को जो बिना मूल्य भैंटरूप में भेजी जाती है – वह 'वस्तु-विज्ञानसार' आपने पढ़ी है या नहीं? आज तक न पढ़ी हो तो तुरन्त मँगाकर जिज्ञासा भाव से इसका अवश्य स्वाध्याय करें। श्री सर्वज्ञदेव की यथार्थ श्रद्धा कब हुई कहलाती है – यह इनमें विशिष्ट रीति से समझाया है; इसे समझे बिना सर्वज्ञदेव की यथार्थ श्रद्धा नहीं होती। यह पुस्तक हिन्दी और गुजराती दोनों भाषओं प्रकाशित हुई है।

श्रावण
२४७६

आत्मधर्म

वर्ष छठवाँ
अंक–४

महावीर भगवान के आत्मा का जीवन

[राजकोट : वीर सम्वत् २४७६ चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन महावीर भगवान के जन्म-कल्याणक प्रसंग पर–उनके जीवन पर पूज्य स्वामीजी का प्रवचन - समयसार गाथा ७७]

आज भगवान के जन्म-कल्याणक का दिन है। भगवान का जन्म तो ढ़ाई हजार वर्ष पहले हुआ था; लेकिन वर्तमान ज्ञान में उसे याद करके 'आज भगवान का जन्म हुआ'– ऐसा आरोप से कहा जाता है। भगवान महावीर कौन थे? और उनका जीवन कैसा था? वह कहा जा रहा है।

भगवान महावीर एक आत्मा थे, और वे भी पहले सभी जीवों की तरह संसारी थे। पश्चात् आत्मा का अन्तर में भान किया; पहले वह भान नहीं था, परन्तु महावीर होने से पूर्व के अमुक भावों में वह भान किया। आत्मस्वभाव की अन्तर-दृष्टि द्वारा पहले जो पुण्य-पाप के सन्मुख दृष्टि थी, उसे भेदकर, स्वभावसन्मुख अभेददृष्टि करने से प्रथम आत्मज्ञान हुआ; तब से महावीर के आत्मा को धर्म की भूमिका प्रारम्भ हुई।

यह भगवान के आत्मा का जीवन कहा जाता है। भगवान ने किसी का कुछ नहीं किया है। भगवान ने अपने आत्मा में धर्म जीवन की दशा किस प्रकार प्रारम्भ करके पूर्ण की?–वही महावीर भगवान का जीवन चरित्र है। महावीर भगवान और प्रत्येक आत्मा अनादि-अनन्त है; महावीर भगवान के जीव ने अनादि से संसार में परिभ्रमण करते-करते महावीर होने से पूर्व के भवों में आत्मा का कैसा भान किया था – उस बात का यह अधिकार चल रहा है।

शरीर, मन, वाणी और कर्म जड़ हैं, उनका मैं कर्ता नहीं हूँ; मैं अखण्डानन्द चैतन्यकन्द हूँ–इस प्रकार परसन्मुख दृष्टि तोड़कर स्वभावसन्मुख एकत्वबुद्धि प्रगट की, तब भगवान के आत्मा को धर्मजीवन का प्रारम्भ हुआ।

भगवान महावीर ने स्वर्ग से आकर त्रिशला माता की कोख से जन्म लिया–ऐसा कहना वह संयोग का कथन है। वास्तव में भगवान के आत्मा ने शरीररूप से जन्म नहीं लिया है। भगवान

का आत्मा सम्यग्दृष्टि था, आत्मस्वभाव की अन्तरदृष्टि द्वारा वह प्रतिक्षण निर्मल पर्याय की उत्पत्ति करता था। जब वे स्वर्ग में थे, तब भी उनका आत्मा निर्मल पर्यायरूप ही उत्पन्न होता था; और माता के पेट में आये, तब भी उस स्थानरूप से आत्मा उत्पन्न नहीं हुआ है, परन्तु निर्मल पर्याय की उत्पत्ति के स्थान में ही उत्पन्न हुआ है। जब से भगवान आत्मा की दृष्टि हुई, तभी से प्रतिक्षण वीतरागी निर्मलदशारूप से आत्मा का जन्म (उत्पाद) होता रहता है।

वर्तमान अवस्था ने स्वभावसन्मुख होकर एकत्व किया, तब से आत्मा प्रति-समय वीतराग दशा में उत्पन्न होता ही रहता है—जन्मता ही रहता है। ऐसा धर्मी का जन्म है। अज्ञानी जीव प्रतिक्षण राग की उत्पत्ति करके रागरूप जन्मता है। शरीररूप तो कोई जीव होता ही नहीं। भगवान महावीर ने त्रिशला माता की कोख से जन्म लिया—ऐसा कहना वह उपचार का कथन है। भगवान का आत्मा जब से माता के पेट में आया, तभी से ज्ञानी था, उस क्षण भी सम्यग्दर्शन और ज्ञान की नवीन पर्यायरूप ही वह आत्मा उत्पन्न होता था। जिस क्षण शरीर की पर्याप्ति के परमाणु बंधते थे, उस क्षण भी 'शरीर की पर्याय का मैं कर्त्ता और वह मेरा कार्य'—ऐसा भगवान नहीं मानते थे।

जहाँ सम्यक् आत्मा का वेदन हुआ कि मैं वर्तमान अंश जितना नहीं हूँ, रागादि मेरा स्वरूप नहीं है; मैं अखण्ड चैतन्यमूर्ति हूँ, वहाँ उस आत्मा में, स्वभाव कर्त्ता होकर वीतरागी परिणामरूप कार्य प्रारम्भ हुआ। पश्चात् वह जीव, माता के पेट में या जन्म के समय भी आत्मा में निर्मल श्रद्धा-ज्ञानरूप वीतरागी परिणामरूप ही उत्पन्न होता है। वास्तव में आत्मा तो आत्मा में ही था, आत्मा सवा नौ महीने तक माता के पेट में रहा – ऐसा कहना, वह संयोग का कथन है, स्वभाव का कथन नहीं है। जितना संयोग का कथन आये, उसका आशय ऐसा समझना चाहिए कि—वास्तव में वस्तु का स्वरूप ऐसा नहीं है, परन्तु संयोगी दूसरी वस्तु का ज्ञान कराने के लिए वह कथन है।

धर्मी आत्मा कर्त्ता होकर अपनी निर्मल पर्याय का कार्य करता है। जीव, शरीर की पर्याप्ति को बाँधे—यह बात मिथ्या है। शरीर का कार्य हो, उसका कर्त्ता सम्यग्दृष्टि आत्मा है ही नहीं। मिथ्यादृष्टि भी उसका कर्त्ता नहीं है, मात्र वह अज्ञानभाव से कर्त्तापना मानता है। शरीर के जन्मते क्षण भी शुद्ध चिदानन्दस्वभाव की दृष्टि की उन्मुखता में भगवान के आत्मा द्वारा वीतरागी दशा ही की जाती थी, और उसी का वह आत्मा कर्ता था। परन्तु शरीर हुआ या जन्म हुआ, उसका कर्ता वह आत्मा नहीं था, और उस समय के विकल्प का भी कर्ता वह नहीं होता था। देखो, यह महावीर भगवान के आत्मा का जन्म कहलाता है। जो इस प्रकार जान ले, उसने भगवान को पहचाना कहलाता है।

पर्यायबुद्धि दूर करके स्वभाव-सन्मुख दृष्टि से आत्मा वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान परिणाम का

कर्ता हुआ; वह कर्त्तव्य किसी क्षण, किसी पल दूर नहीं होता, और जो विकल्प हो, उस विकल्प के कर्ता होने के सन्मुख ज्ञानी की दृष्टि कभी नहीं होती। भगवान के आत्मा ने जन्म लिया, तभी से ऐसी दशा थी;–ऐसा भगवान महावीर का जन्म जीवन था।

फिर महावीर भगवान बड़े हुए; – काहे में? शरीर की पर्याय में नहीं, परन्तु आत्मा की पर्याय में। शरीर की पर्याय जड़ के कारण पुष्ट होने लगी, उसका कर्ता महावीर का आत्मा नहीं था, और आत्मा के प्रदेशत्वगुण की योग्यता से आत्मा का क्षेत्र विस्तृत होने लगा, उस व्यंजन-पर्याय के सन्मुख भी उनकी दृष्टि नहीं थी; परन्तु वीतरागी स्वभाव के सन्मुख दृष्टि थी, इससे स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञानरूप पर्याय में भगवान बड़ हुए।

कर्ता का इष्ट वह कर्म। शरीर की पुष्ट अवस्थ हुई, वह आत्मा का कर्म नहीं है, परन्तु वह तो जड़ पुद्गल का कर्म है। शरीर बड़ा होता था, उस समय भी भगवान को भान था कि मैं शुद्ध चिदानन्द ज्ञानस्वभावरूप परिणमित होनेवाला हूँ, और जो वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान आनन्द परिणाम प्रगट हों, वह मेरा कर्म है। शरीर की दशा बढ़े, वह मेरा कर्म नहीं है। मैं–आत्मा विद्यमान होऊँ, तो जड़ शरीर की दशा होती है–ऐसा नहीं है। स्वसन्मुख दृष्टि से जो निर्मलदशा प्रगट हो, वही धर्मी का इष्टकर्म है। विकार मेरा कार्य और मैं उसका कर्ता–इस प्रकार मिथ्यादृष्टि विकार को इष्टरूप से स्वीकार करता है। जिसे चैतन्यतत्त्व का भाव नहीं है, वह जीव पुण्य-पाप आदि विकारी परिणामों को अपना इष्ट कार्य मानता है, और उस विकार का कर्ता होता है, परन्तु जड़ की अवस्था को तो अज्ञानी भी नहीं कर सकता,–ऐसे भानसहित भगवान बड़े हुए।

– तत्पश्चात् महावीर भगवान ने दीक्षा ली। उस समय भी भगवान के आत्मा में पंचमहाव्रत का जो शुभ विकल्प उठा, उस विकल्प को भगवान ने कर्ता होकर नहीं किया है। शुद्ध चिदानन्दस्वभाव की दृष्टि और एकाग्रता से जो निर्मल श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र परिणाम हुए, उन्हीं के भगवान कर्ता हैं। परसन्मुखदृष्टिरहित ध्रुवस्वभाव की दृष्टि से प्रतिक्षण वीतरागी परिणाम को ही भगवान करते थे। राग हो, उसे आत्मा के कार्य के रूप में स्वीकार नहीं करते थे।

दीक्षा लेने के पश्चात् लगभग साढ़े बारह वर्ष तक भगवान छद्मस्थरूप से मुनिदशा में रहे। उन साढ़े बारह वर्ष तक उन्होंने क्या किया? आत्मा के स्वभावसन्मुख-दृष्टि और लीनता से भगवान के अरागी परिणाम प्रतिक्षण बढ़ते थे और राग टूटता था,–वह कार्य भगवान ने किया है। इसके अतिरिक्त आहार को लेना या छोड़ना–वह कुछ भी भगवान ने नहीं किया है। लोग कहते हैं कि महावीर भगवान ने बहुत से प्रतिकूल संयोग सहन किये, और आहार का त्याग किया, परन्तु वास्तव में भगवान के आत्मा ने वह कुछ किया नहीं है। स्वभाव के आनन्द की लीनता में रहने

से आहार की वृत्ति ही न हो, तब बाह्य में भी आहर का संयोग जड़ के कारण होना ही न था, इससे नहीं हुआ; तब भगवान ने आहार छोड़ दिया–ऐसा उपचार से कहलाया; लेकिन वास्तव में भगवान के आत्मा ने अपने निर्मल परिणामों के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं किया है। भगवान साढ़े बारह वर्ष तक मुनिपने में रहे, तब सर्वज्ञ नहीं थे, परन्तु अल्पज्ञ थे; लेकिन तब भी शुद्ध चैतन्य की ओर की उन्मुखता में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के शुद्ध परिणाम को ही वे करते थे। पंचमहाव्रत का शुभ राग भी भगवान ने वास्तव में नहीं किया था; उस राग का स्वामित्व भी वे नहीं मानते थे।

पश्चात् जब भगवान का आत्मा निजस्वरूप में पूर्णतया लीन हुआ, तब पूर्ण ज्ञानदशा–केवलज्ञान को प्राप्त हुआ। चार घातिया कर्मों का नाश स्वयं हो गया और भगवान को अरहन्त दशा प्रगट हुई। चार घाति कर्मों को नाश करने का कार्य भगवान ने नहीं किया है, परन्तु पूर्ण ज्ञानदशारूपी कार्य ही भगवान ने किया है।

केवलज्ञान प्रगट होने के पश्चात् तीस वर्ष तक भगवान अरिहन्तरूप रहें; उसमें भगवान ने दिव्यध्वनि का प्ररूपण किया?–नहीं। वाणी तो जड़ परमाणु का परिणमन है, उस वाणी का कर्ता जड़ है। भगवान ने वह वाणी नहीं की है। आज महावीर भगवान के जन्मकल्याणक के निमित्त से भाषण में लोग कहेंगे कि, महावीर भगवान ने पर जीवों का उद्धार किया, यज्ञों में होनेवाली हिंसा को रोका, परोपकारार्थ जीवन बिताया;–आदि प्रकार से महावीर के नाम पर बोलेंगे; परन्तु भगवान महावीर ने पर का कुछ भी नहीं किया है। भगवान की वाणी का निमित्त पाकर उस समय जिन जीवों की योग्यता थी, उन्होंने परिणामों को बदला; वहाँ भगवान ने किया–ऐसा उपचार से कहा जाता है। वास्तव में भगवान ने पर में कुछ नहीं किया है, भगवान ने तो अपना केवलज्ञानरूपी कार्य ही किया है।

चैतन्यतत्त्व में प्रतिक्षण क्या हो रहा है;–उसकी यह बात है। कोई आत्मा पर का तो कुछ कर नहीं सकता; अज्ञानी भी जड़ का कर्ता तो नहीं है। एक परमाणु दूसरे परमाणु की अवस्था को नहीं करता है। जब महावीर भगवान की वाणी खिरी, उस समय पात्र जीवों ने अपनी-अपनी योग्यता से सीधे परिणाम किये; वहाँ महावीर स्वामी के आत्मा की उपस्थिति थी, इससे महावीर ने हिंसा को रोका–ऐसा निमित्त का कथन है।

भगवान ने तीस वर्ष तक उपदेश किया–यह भी उपचार का कथन है। उपदेश की वाणी छुटी, वह परमाणु की पर्याय हुई है। उस पर्याय के समय भी भगवान का आत्मा निमित्तरूप से उपस्थित था; परन्तु वाणी के काल के समय भी उस आत्मा का तो प्रतिक्षण केवलज्ञानरूप ही परिणमन हो रहा है। भगवान उस केवलज्ञान के कर्ता हैं; भगवान ने वाणी नहीं की है और भगवान

वहाँ विद्यमान थे, इसलिए वाणी हुई–ऐसा भी नहीं है। वाणी के समय निमित्तरूप से आत्मा में जो योग का कम्पन था, उस योग के कम्पनरूप कार्य के कर्ता भी भगवान नहीं है। भगवान प्रतिसमय केवलज्ञानरूपी कार्य के कर्त्ता हैं और केवलज्ञान उनका कर्म है।

– ऐसा भगवान के आत्मा का जीवन है, इसके अतिरिक्त भगवान ने दूसरा कुछ नहीं किया है। अब भगवान की वाणी में क्या कहा है? भगवान की वाणी में ऐसा आया कि –

अहो, जीवो! तुम अपने स्वभाव से परिपूर्ण हो, तुम अपने स्वतन्त्र आत्मद्रव्य–सन्मुख होकर सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान प्रगट करो, तब तुम्हें अपने स्वतन्त्र कर्म से धर्म होता है। जीव स्वयं अपनी योग्यता से धर्म प्राप्त करे, तब उपचार से-विनय से ऐसा कहा जाता है। कि हे भगवान! 'तीथ्थयराणं'–आप धर्म तीर्थ के कर्ता हो! वास्तव में इस आत्मा की धर्म-पर्याय में भगवान का अभाव है। एक वस्तु का दूसरी में अत्यन्त अभाव है; वे एक दूसरे को कुछ करें–ऐसा तीनकाल में नहीं बनता। भगवान ने अनेक जीवों का उद्धार किया–ऐसा उपचार का कथन है; उपचार यानी वास्तव में ऐसा नहीं है। जिन जीवों ने आत्मभान प्राप्त करके अपना उद्धार किया, उन्होंने अपने पुरुषार्थ से ही किया है।

देखो! ऐसा महावीर भगवान का जीवनचरित्र है। महावीर भगवान ने इतने व्रत पाले और इतने वर्ष तप किया, तथा इतने उपवास किये– ऐसा तो कुछ भी इस महावीर जीवन में नहीं आया। तब फिर भगवान ने क्या किया ? महावीर भगवान ने अन्तरस्वभाव के सन्मुख होकर अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन किया, और अवस्था में व्रतादि का शुभराग हो, उसका कर्तृत्व छोड़ दिया। आत्मा अनादि-अनन्त सच्चिदानन्दस्वभाव की मूर्ति है, विकार उसका स्वरूप नहीं है। अवस्था में जो विकार का अंश है, वह मेरा कार्य और मैं उसका कर्ता–ऐसी अंशबुद्धि–विकार-बुद्धि, वह पाखण्ड है–अधर्म है; और पर-पदार्थों का कार्य मैं करता हूँ–ऐसा मानना तो महान अधर्म है।

भगवान के सारे जीवन का अन्तर में समावेश होता है, बाह्य में भगवान ने पर का कुछ भी नहीं किया है। मिथ्यादृष्टि का जीवन क्या है, वह कहते हैं:–मिथ्यादृष्टि भी पर में तो कुछ भी नहीं कर सकता; परन्तु मैंने पर का किया और मैं विकार का कर्त्ता–ऐसा वह मानता है। इससे वह प्रतिक्षण विकाररूप उत्पन्न होता है–यह उसका जीवन है। मिथ्यादृष्टि को अपने में स्वतन्त्र कार्य की स्वीकृति नहीं है, इसलिए वह विकार का कर्ता होता है और ऐसा मानता है कि पर का कार्य मुझसे होता है। लेकिन ऐसा कभी होता ही नहीं कि, वस्तु की अवस्था कोई दूसरा करे। यदि दूसरे के कारण वस्तु का कार्य हो तो उस वस्तु के स्वतन्त्र अस्तित्त्व का ही अभाव होता है। अज्ञानी भी दूसरे के जीवन में कुछ करे–ऐसा तीनकाल-तीनलोक में नहीं बनता। अज्ञानी अपने जीवन

में–अपनी अवस्था में विकार करके उसका कर्ता होता है, और धर्मी जीव अपने जीवन में–अपनी अवस्था में निर्मल श्रद्धा–ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागी परिणाम करके उनका कर्ता होता है।

भगवान ने सुख से खाया–पीया भी नहीं, और अनेक कष्ट सहन किये–ऐसा अज्ञानी मानते हैं, लेकिन क्या धर्म कष्टदायक है? जिसमें कष्ट सहन करना पड़े अर्थात् दुःख भोगना पड़े–ऐसा धर्म भगवान ने नहीं किया था। धर्म में तो आत्मा की शान्ति होती है या कष्ट? लोग बाह्य संयोग से कष्ट मानते हैं, परन्तु ऐसा है ही नहीं। यदि धर्म में कष्ट सहन करना पड़ते हों तो फिर कष्ट दूर किस प्रकार हो? कष्ट अर्थात् दुःख; जिसमें कष्ट मालूम हो, वह आर्त्तध्यान है; तो फिर उसके फल में तो तीनकाल-तीनलोक में भी केवलज्ञान नहीं हो सकता। जिसमें कष्ट मालूम हो, उसके फल में शान्ति कहाँ से होगी? नहीं हो सकती। आत्मा का धर्म तो शान्तिदाता–अनाकुल आनन्दस्वरूप है। कष्ट है, वह दुःख है, और धर्म सुखरूप है। धर्म में कष्ट सहन करना पड़ता है–इसका अर्थ तो यह हुआ कि दुःख भोगे तो सुख होता है। ऐसा नहीं हो सकता। रागरहित सहज आत्मस्वरूप के ओर की उन्मुखता में अनाकुल शान्ति और वीतरागी आनन्द की धारा प्रगट हो, उसका नाम धर्म है। अज्ञानी को भी बाह्य प्रतिकूल संयोग का दुःख नहीं है, परन्तु पुण्य-पाप मेरे और जड़ शरीर की दशा मेरी–ऐसा उसका मिथ्यात्वभाव ही दुःख है। दुःख भोगते-भोगते धर्म हो–इसका अर्थ यह हुआ कि मिथ्यात्व और राग-द्वेष का सेवन करते-करते धर्म हो–ऐसा अज्ञानी मानते हैं। मुनिदशा में महावीर भगवान ने कष्ट सहन नहीं किए थे, परन्तु आत्मा की शान्ति की रसधारा का अनुभव किया था।

महावीर भगवान ने बारह-बारह वर्ष तक घोर तप किया, अर्थात् मानों उन्होंने बहुत दुःख भोगा–ऐसा अज्ञानी मानते हैं; परन्तु उस समय भगवान के आत्मा ने अन्तर में क्या किया, वह बात अज्ञानी नहीं जानते। चैतन्य-स्वभावसन्मुख लीन होने से भगवान के तो आनन्दकन्द आत्मा की शान्ति की धारा फूटी थी। जैसे इत्र का बड़ा भारी पहाड़ हो, और उसमें कोदाली मारने से सुगन्धित इत्र का फव्वारा छूटे, उसी प्रकार भगवान आत्मा आनन्दकन्द अनाकुल शान्ति का पर्वत है, उसकी दृष्टि करके लीनता हुई कि चैतन्य-अमृत का पर्वत जो आत्मा है, उसमें से शान्ति का फव्वारा छूटने लगा, उसका नाम धर्म है। धर्मी जीव ऐसी शान्ति का अनुभव करता है। भगवान ने ऐसा ही शान्ति का अनुभव किया था; उसके बदले जो धर्म को कष्टदायक मानते हैं, वे धर्म का अपमान करते हैं।

चारित्र को बालू के कौर जैसा माना अर्थात् धर्म में महान क्लेश होगा!–ऐसा माना। परन्तु जिससे क्लेश होता हो–ऐसा धर्म भगवान ने किया नहीं है और न कहा भी है। क्लेश कारण और

अनाकुल शान्ति कार्य–ऐसा ही हो नहीं सकता। आत्मा का धर्म तो अनाकुल शान्तिरूप है। चैतन्य भगवान महावीर ने ऐसा धर्म किया और ऐसा ही कहा है।

आत्मा चिदानन्द वस्तु है, उसका स्वभाव दुःखरूप नहीं है। दुःख तो विकृति है, क्षणिक उपाधि है। वस्तु को अपने स्वभाव से दुःख नहीं है और पर के कारण भी दुःख नहीं है। अनाकुल आनन्दस्वरूप स्वतःसिद्ध आत्मा का लक्ष्य चूककर स्वयं जितनी विकृतदशा उत्पन्न करता है, वही दुःख है। न तो स्वभाव दुःख है और न संयोग दुःख है। शरीर में क्षुधा-तृषा-रोगादि होते हैं, वह जड़ की अवस्था है, उसका दुःख आत्मा को नहीं है। प्रतिकूल संयोग दुःख नहीं है और अनुकूल संयोग सुख नहीं है; निर्धनता अवगुण नहीं है और सधनता गुण नहीं है; रोग अवगुण नहीं है और निरोगता गुण नहीं है; अप्रतिष्ठा अवगुण नहीं है और प्रतिष्ठा गुण नहीं है; काला-कुबड़ा शरीर अवगुण नहीं है और सुन्दरता गुण नहीं है। इस प्रकार किसी पर के कारण आत्मा को सुख-दुःख या गुण-अवगुण नहीं है; परन्तु क्षुधा, तृषा इत्यादि अवस्थाएँ शरीर में होने से 'यह मुझे होता है'– ऐसी मिथ्यादृष्टि की मान्यता ही अवगुण है और वही दुःख है। भगवान आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, स्वभाव की अनाकुलता का पिण्ड-पर्वत प्रभु चैतन्य है, उसके स्वभाव में दुःख नहीं है; परन्तु जड़ की अवस्था में रोगादि होने से –यह मुझे हुआ–ऐसी जो पर में अपनेपन की मान्यता खड़ी करता है, वह अधर्म और दुःख है। धर्मी जीव के वह मान्यता दूर हो गयी है। आत्मा के स्वभाव की शान्ति में धर्मी को कष्ट है–ऐसा मानना वह भगवान द्वारा कथित धर्म का अनादर है, इससे अपने शान्ति-स्वभाव का भी अनादर है। धर्मी जीव आत्मस्वभाव की दृष्टि से प्रतिक्षण शान्ति का अनुभव करता है। कष्ट और क्लेश भोगना पड़ें–ऐसा धर्मी का जीवन नहीं है, परन्तु प्रतिक्षण आत्मा की अपूर्व शान्ति का अनुभव हो–ऐसा धर्मी का जीवन है।

– ऐसा जीवन भगवान महावीर ने और सर्व धर्मात्माओं ने व्यतीत किया है; वर्तमान के धर्मात्मा ऐसा जीवन बिता रहे हैं और भविष्य के धर्मात्मा ऐसा ही जीवन बितायेंगे। भगवान महावीर के आत्मा ने ऐसा जीवन किया था,–इसका लोगों को भान नहीं है, इससे बाह्य से भगवान का माप निकालते हैं। भगवान जंगल में अकेले रहे और आहार नहीं लिया तथा नग्न रहे, इसलिए भगवान दुःखी थे–ऐसा कहना वह वस्तु स्वभाव को विकृत करके सर्वज्ञ का अनादर करने जैसा है। क्या जंगल में रहने और रोटी न खाने से भगवान को दुःख था? नहीं। उस क्षण भगवान तो अपने अतीन्द्रिय आनन्द के उपभोग में लीन थे।

अहो! घर में खोटा रुपया न आ जाये उसके लिए खरे-खोटे रुपये की परीक्षा करने के लिए रुपया ठनकाने का पत्थर रखता है, परन्तु यहाँ धर्म मे अखण्ड चैतन्य पिण्ड आत्मा कौन है

और उसका धर्म किस प्रकार होता है? उसकी परीक्षा नहीं करता। ध्रुवस्वभाव के आश्रय से सम्यक्-श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के अंश प्रगट करके नकद धर्म लेना है, तो उसकी परीक्षा करके खरे-खोटे की पहचान करना चाहिए।

आदि-अन्त रहित, ज्ञानदर्शन स्वभाव का सागर आत्मा है, उसके सन्मुख होकर आत्मा द्वारा निर्मल परिणाम किये जाते हैं; भगवान महावीर ने वैसे परिणाम में जीवन बिताया था। पहले से अर्थात् जब से धर्मी हुए तब से मुक्त होने तक भगवान ने ऐसा जीवन बिताया था। भगवान का आत्मा और मेरा आत्मा स्वभाव से समान हैं; मैं भी स्वयं स्वसन्मुख श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट करके भगवान हो सकता हूँ। इस आत्मा के अतिरिक्त देव-गुरु-शास्त्र पर हैं, उनमें इस आत्मा का कल्याण करने की शक्ति नहीं है। और उनके सन्मुख भक्ति का जो शुभराग होता है, उस राग में भी आत्मा का कल्याण करने की शक्ति नहीं है। अपनी स्वभावोन्मुखता से ही कल्याण प्रगट होता है। महावीर भगवान ने ऐसा किया और ऐसा कहा है। जो इससे विरुद्ध मार्ग कहे, वह भगवान को, भगवान को कहे हुए शास्त्रों को और सन्तों को नहीं जानता है। जिसकी दृष्टि आत्मसन्मुख नहीं है—ऐसे अज्ञानी का एक अक्षर भी सत्य नहीं होता। भगवान के समवशरण में बैठा हो और दिव्यध्वनि सुन रहा हो, उस समय भी उसकी दृष्टि; परसन्मुख है। अज्ञानी की सारी बेल ही कड़वी है—अर्थात् उसकी दृष्टि विपरीत होने से प्रतिक्षण विकार की उत्पत्ति होती है; और ज्ञानी के स्वसन्मुख अमृत की बेल है, अर्थात् स्वभावसन्मुख दृष्टि से उनके क्षण-क्षण पर्याय की निर्मलता बढ़ती है। मिथ्यादृष्टि को मूल में ही पर के कारण ज्ञानादि होने की मान्यता है, वही भूल है।

निमित्त के कारण आत्मा को ज्ञान होता है—यह बात तो दूर रही, लेकिन यहाँ तो आचार्यदेव कहते हैं कि निमित्त के लक्ष्य से होनेवाले विकल्प और खण्डज्ञान के ऊपर की बुद्धि भी मिथ्यात्व को उत्पन्न करनेवाली है। अखण्ड चैतन्य के स्वभाव में खण्ड-खण्ड ज्ञानरूप भावेन्द्रिय तो आत्मा के अनन्तज्ञान का एक अंश है। उस अंश जितना ही सम्पूर्ण आत्मा को माने, उसके स्वभावसन्मुख दृष्टि का अभाव है। जैसे महावीर भगवान हैं, वैसी ही जाति के सभी आत्मा हैं; स्वभाव सामर्थ्य में कुछ भी फेर नहीं है। भगवान को सर्वज्ञ-परमात्मदशा प्रगट हुई है और इस जीव को अपूर्ण ज्ञान है—ऐसा वर्तमान अवस्था में अन्तर है। उस अवस्था को गौण करके स्वभावसन्मुख बुद्धि करना, वह मोक्ष का कारण है और परसन्मुख बुद्धि संसार का कारण है।

महावीर भगवान ने अपने जीवन मे स्वभावसन्मुख बुद्धि करके श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के निर्मल परिणाम कार्य को किया, और इस समय मोक्ष में भी ऐसा ही कार्य करते हैं। सम्यग्दर्शन से

लेकर सादि-अनन्त मोक्षदशा तक धर्मी जीव अपने ज्ञानमय वीतरागी परिणाम को ही करता है, परन्तु पर को या विकार को नहीं करता।

जिस प्रकार मिट्टी स्वयं अन्तर्व्यापक होकर घड़ारूपी कार्य को करती है, उसी प्रकार भगवान का आत्मा, शरीर-मन-वाणी आदि जड़ की अवस्थाओं में अन्तर्व्यापक होकर उन्हें नहीं करता है, परन्तु अपने श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के निर्मल वीतरागी परिणामों में अन्तर्व्यापक होकर उन्हीं को करता है।

प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य – ऐसा तीन प्रकार का कर्म है। मिट्टी में से घड़ा होता है, उसे कुम्हार नहीं करता, परन्तु मिट्टी ही करती है। घड़ारूप कर्म को मिट्टी ही प्राप्त करती है, इसलिए घड़ा मिट्टी का प्राप्यकर्म है। घड़ा होने का जो स्वकाल था, तब घड़ा हुआ है; उस अवस्था को मिट्टी ने प्राप्त किया है, इससे मिट्टी ही उसका कर्ता है। परन्तु उसी प्रकार पुद्गल के परिणाम भगवान आत्मा का प्राप्य नहीं है। वाणी के शब्द होते हैं, उन्हें जड़ परमाणु प्राप्त करते हैं; वाणी भगवान आत्मा का प्राप्य-कर्म नहीं है अर्थात् आत्मा ने वह वाणी नहीं की है। वाणी उन परमाणुओं का स्वकाल है; उस समय आत्मा अपने स्वकाल में निर्मल परिणामों को करता है। इससे महावीर भगवान ने वाणी को नहीं किया है।

आत्मा तो जड़ भाषा की पर्याय को नहीं करता है, परन्तु इस मुँह के ओठ ऊँचे-नीचे होते हैं, वे भी भाषा की पर्याय को नहीं करते हैं। होठ के परमाणु होठ की पर्याय को प्राप्त होते हैं, भाष की पर्याय को वे प्राप्त नहीं होते। भाषा के परमाणु ही भाषारूप से उसे प्राप्त हुए हैं। समवशरण में दिव्यध्वनि खिरी, उस समय भगवान महावीर तो अपनी केवलज्ञान पर्याय को प्राप्त हुए हैं, भगवान ने तो उस उस समय की अपनी वीतरागी केवलज्ञानदशा को प्राप्त किया है। भगवान ने दिव्यध्वनि द्वारा उपदेश देकर चार तीर्थ की स्थापना की–ऐसा कहना वह व्यवहार का कथन है। चार तीर्थ में साधु, आर्जिका, श्रावक–श्राविका इन प्रत्येक जीवों ने अपनी-अपनी सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायों को अपनी योग्यता से ही प्राप्त किया है; भगवान ने उनका कुछ नहीं किया।

और भगवान ने विहार किया, वहाँ भी उनके शरीर के विहार की क्रिया परमाणु के कारण ही हुई है, केवली भगवान के आत्मा ने उस शरीर का क्षेत्रान्तर नहीं किया है। महावीर भगवान का यह जीवन है कि उन्होंने पर का कुछ नहीं किया है, उस उस क्षण आत्मा द्वारा किये जानेवाले केवलज्ञानरूप परिणाम को ही किया है। अज्ञानी जीव, विकारीभाव करके उनका कर्ता होता है। पर का तो कोई जीव कर नहीं सकता। मैं पर का करूँ और पर मेरा करे–ऐसा जो माने, वह मिथ्यादृष्टि है। मैं पर का नहीं करता और पर मेरा नहीं करता–ऐसा निश्चित किया, फिर किसके

सन्मुख देखना रहा? अपने ज्ञानस्वभाव के सन्मुख ही देखना रहा; इससे स्वसन्मुख निर्मल पर्याय होने लगी—वह धर्मी का धर्म है। हे भाई! अपने में स्वभावबुद्धि छोड़कर तू पर का आश्रय माने तो भगवान तुझे क्या करेंगे? भगवान के सन्मुख दृष्टि करे, तथापि भगवान तेरा कुछ नहीं कर देंगे; तू अपने स्वभाव की ओर दृष्टि करे तो तुझे धर्म के प्रारम्भ से मोक्ष तक बीच में दुःख नहीं है; दुःख अथवा अरुचि हो, वह धर्म नहीं है, और धर्म में दुःख नहीं है।

भोजन नहीं लिया, वहाँ आत्मा में बेचैनी हो तो वह आर्त्तध्यान है; आर्त्तध्यान पाप है। इस प्रकार भाव में तो आर्त्तध्यान का पाप हो और माने कि, मैंने धर्म किया है—वह तो मिथ्यात्व का सेवन करता है। धर्मी आत्मा तो अन्तर-शक्ति में से शान्ति के परिणाम व्यक्त करता हुआ उसरूप परिणमित होता है, उसे उत्पन्न करता है और प्राप्त करता है,—यही धर्मी का धर्मकार्य है। अज्ञानी जीव, रागादि का कर्ता होकर उन रागादि परिणामों को पकड़ता है, और पर का करना मानता है, परन्तु पर के कार्य को तो वह जीव भी नहीं कर सकता। प्रत्येक पदार्थ भिन्न-भिन्न है और सबका कार्य अपने अपने में ही है। भगवान ने अपने में निर्मल श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप कार्य किया है, इसके अतिरिक्त बाह्य में कुछ नहीं किया है।

वस्तु का स्वभाव इसी प्रकार है, वह ढँका रहे, वैसा नहीं है। छद्मस्थपने में पुण्य-पाप के विकल्प हों, उन्हें धर्मी पकड़ता नहीं है और इन्द्रियादि जड़ की पर्याय को भी धर्मी ग्रहण नहीं करता है; इससे धर्मी ऐसा नहीं मानता है कि इन्द्रियों के कारण मुझे ज्ञान हुआ है। पर्यायबुद्धि वाला मानता है कि यदि इन्द्रियाँ हों तो मुझे ज्ञान होता है, राग के कारण मुझे ज्ञान होता है। धर्मात्मा जीव उन इन्द्रियों को या राग को ग्रहण नहीं करता। मैं शुद्ध चैतन्य, ज्ञानानन्द हूँ—इस प्रकार अपने स्वभाव को जानता हुआ धर्मी जीव निर्मल परिणामों को करता है। स्वसन्मुख श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र हुए, उन अपने वीतरागी परिणामों को धर्मी जीव जानता है, परन्तु विकल्प को या जड़ की दशा को वह नहीं पकड़ता।

स्वभावसन्मुख दृष्टि में धर्मी जीव, विकार को नहीं पकड़ता, विकार का कर्ता नहीं होता, इससे 'मुझे अनन्त भव होंगे'—ऐसी शंका उसे नहीं होती। 'मैं भव्य होऊँगा या अभव्य?'—ऐसी भव्य-अभव्य की शंका ज्ञानी को कभी नहीं पड़ती। स्वभाव के भान में भव की शंका ही निकल गई है। अभव्य और भव्य तो अरूपी भाव हैं, इससे वह तो केवली भगवान जानें, अपने को उसकी कुछ भी खबर नहीं पड़ती'—ऐसा जो मानता है, उसे अंशमात्र भी धर्म नहीं है। अभव्य जीव की अनन्तानन्त भव में भी मुक्ति नहीं होती। 'मुझे अभी अनन्त भव करना बाकी होंगे'—ऐसी भव की शंका जिसे दूर नहीं हुई है, और मैं भव्य हूँ, मुझे अब अनन्तभव हैं ही नहीं, अल्पकाल

में ही मेरी मुक्ति है–ऐसी यथार्थ निःशंकता जिसे प्रगट नहीं हुई है, वह जीव भवरहित वीतरागी भगवान की परीक्षा करने की शक्ति कहाँ से लायेगा। सर्वज्ञदेव को पूर्णानन्ददशा होकर भवरहित जीवन्मुक्तदशा हुई है, उन भवरहित पुरुष की वाणी की परीक्षा 'भव्य-अभव्य' की शंकावाला जीव कर ही नहीं सकेगा। जो प्रतिक्षण भव की शंका में पड़ा है, उस जीव में भवरहित भगवान के वचनों की परीक्षा करने की शक्ति हो ही नहीं सकती। यथार्थ वस्तुस्वरूप समझे बिना और अपने आत्मा का निर्णय किये बिना, महावीर भगवान के नाम पर जिसे जो अच्छा लगता है, कहते हैं और अपनी कल्पना को वर्द्धमान देशना कहकर भगवान के नाम पर चढ़ाते हैं, लेकिन वास्तव में तो उसमें मिथ्यात्व की पुष्टि होती है। भगवान के आत्मा ने क्या किया–उसका अज्ञानी को भान नहीं है।

भगवान का आत्मा जड़ शरीरादि की किसी अवस्थ को तो ग्रहण नहीं करता, उसे परिणमित नहीं करता और न उसरूप उत्पन्न होता है, परन्तु उसके लक्ष्य से अपनी पर्याय में जो खण्डज्ञान होता है, उस पर धर्मी की दृष्टि नहीं है, इससे वास्तव में उसरूप भी उत्पन्न नहीं होता; परन्तु अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभाव के आश्रय से ही उत्पन्न होता है। अतीन्द्रिय ज्ञान-स्वभाव के आश्रय से ही केवलज्ञान होता है, उस केवलाानरूपी कार्य को भगवान कहते हैं।

अहो! भगवान ने सम्यग्दर्शन से लेकर केवलज्ञान तक ऐसा आत्मस्वभाव साधा है। अज्ञानी परलक्ष्य से विकार करके उसका वेदन करता है, उसका नाम संसार है; और चिदानन्द स्वभाव के आश्रय से उस विकार का व्यय होकर पूर्णानन्द दशा प्रगट हो, वह मोक्ष है। सिद्धशिला के क्षेत्र में मोक्ष नहीं है परन्तु आत्मा में जो पूर्ण-ज्ञानानन्दमय शुद्धदशा प्रगट हुई, वही मोक्ष है। आत्मसिद्धि में कहा है कि :–

मोक्ष कह्यो निज शुद्धता, ते पामे ते पंथ;
समजाव्यो संक्षेपमां, सकल मार्ग निर्ग्रन्थ।

भगवान महावीर के आत्मा ने ऐसे मोक्षदशारूपी कार्य को किया। ऐसा भगवान महावीर का जीवन था।

धर्मी जीव क्या कार्य करता है?

[वीर सं० २४७६ चैत्र शुक्ला १२, राजकोट में श्री समयसारकर्त्ताकर्म अधिकार गाथा ७७ पर पूज्य स्वामीजी का प्रवचन]

जिस प्रकार सर्वज्ञ भगवान के रागादिभाव नहीं हैं, वे अकेला जानने का ही कार्य करते हैं, उसी प्रकार क्या धर्मी जीव भी मात्र जानने का ही कार्य करते हैं या दूसरा कुछ? वह बात चल रही है। ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव की रुचि करके, उसके सन्मुख परिणमित होने पर जो श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के वीतरागी अंश प्रगट हुए, वह धर्मी का कार्य है। पर की अवस्था का कार्य तो अज्ञानी जीव भी नहीं कर सकता। अज्ञानी अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को न मानकर, विकार को कर्मरूप से स्वीकार करता है, इससे वह विकार का कर्ता होता है, और ऐसा मानता है कि पर के कार्य मैं करता हूँ। 'मैं कर्ता हूँ और विकार मेरा कार्य हैं, मैं कर्ता हूँ और पर मेरा कार्य है'—इस प्रकार विकार और पर के साथ कर्ता-कर्मपने की मान्यता, वह अधर्म है।

अज्ञानी जीव को इसकी भी खबर नहीं है कि अपने परिणाम कैसे होते हैं। शुद्धस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान होने से ज्ञानी धर्मात्मा अपने अनेक प्रकार के परिणामों को जानता है। अज्ञानदशा में जीव रागादि परिणामों को करता था और अज्ञान से जड़ का करना मानकर मिथ्यात्व परिणामों का कर्ता होता था; उसे अपने या पर के परिणामों की खबर नहीं थी; अपना अज्ञानभाव कैसे होता है—उसकी, और सर्वज्ञदेव के कहे हुए शास्त्रों की उसे खबर नहीं थी। अब स्वसन्मुख ज्ञानी हुआ, वही स्व और पर को बराबर जानता है। ज्ञानी जीव स्वसन्मुख रहकर पर को और रागादि को जानता होने पर भी उनका कर्ता नहीं होता—यह बात ७६ वीं गाथा में ली; अब इस गाथा में अपने निर्मल परिणामों को जानने की बात है।

मैं ज्ञानमूर्ति शुद्ध आत्मद्रव्य हूँ—इस प्रकार स्वसन्मुख श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के जो निर्मल अरागी परिणाम हुए, उन अपने परिणामों को ज्ञानी जानता है। यहाँ रागादि भाव का पर परिणामों में समावेश किया है। धर्मी के धर्म परिणाम निर्विकल्प, रागरहित, शुद्ध, अरूपी हैं।

स्वभावसन्मुख जो श्रद्धा-ज्ञान हुए, उन परिणामों का ख्याल अपने को आ गया कि—अहो! मैं सम्यक्दृष्टि हुआ, सम्यक्ज्ञानी हुआ, अब मेरे भवभ्रमण नहीं है। अहो! आत्मद्रव्य! मैं सत्स्वभाव से परिपूर्ण ज्ञानमूर्ति हूँ। सर्वज्ञदेव सबकुछ जानने का ही कार्य करते हैं; जानने के अतिरिक्त राग का या पर-पदार्थों में फेरफार करने का काम नहीं करते; उसी प्रकार मैं भी स्वभाव-सन्मुख रहकर अपने में जानने का ही कार्य करता हूँ। इस प्रकार वीतरागी द्रव्य के आश्रय से हुए

अरूपी निर्मल परिणामों को धर्मी जानता है—उस जाननेरूप कार्य को करता है, परन्तु उससे कहीं पर परिणामों का कर्ता नहीं होता।

यहाँ कहा है कि धर्मी अपने परिणाम को जानता है, इससे अपने धर्मपरिणाम की अपने को खबर पड़ती है, केवली भगवान से पूछने नहीं जाना पड़ता। नीचे की दशा में ज्ञानी को स्व-पर का बराबर भान है, निमित्त और परोन्मुखता की बुद्धि तो उनके हट ही गई है, और अवस्था में निर्बलता से जो पुण्य-पाप होते हैं, उनकी भी रुचि नहीं है; धर्मी तो अपने स्वभाव के आश्रय से निर्दोष परिणाम को ही करता है। अपने स्वभाव के आश्रय से हुई उस निर्दोष पर्याय को सम्यग्दृष्टि जानता है।

प्रश्न :— आत्मा का स्वभाव ज्ञाता होने पर भी विकार का कर्ता कहाँ से हो गया?

उत्तर :— आत्मा के मूलस्वभाव में विकार नहीं है, परन्तु अवस्था में विकार होने की उसकी योग्यता है। अवस्था के क्षणिक विकार का द्रव्यदृष्टि में स्वीकार नहीं है। द्रव्यस्वभाव तो अनादि एकरूप है, परन्तु पहले उसका भान नहीं था; अब अपनी आँख खुली, तब उसका भान हुआ। जिस प्रकार दुनिया पहले से थी ही, लेकिन जब आँख खुली, उस समय बिल्ली के बच्चे ने दुनियाँ देखी; इससे दुनियाँ नयी हुई है—ऐसा उसे लगता है। उसी प्रकार अनादि वस्तुस्वभाव क्या है? वह नहीं जाना था, और अब जाना, इसलिए वह बात नयी मालूम होती है। पहले स्व और पर का भान नहीं था। धर्मी की स्वभावसन्मुख आँख खुली, वहाँ स्व क्या और पर क्या, उसे वह जानता है। धर्मी को खबर पड़ी कि अपने स्वभाव से मैं जागृत हुआ हूँ। अभी तक मैं सोता था, मुझे अपने स्वभाव की खबर नहीं थी और भगवान क्या कहना चाहते हैं, उसकी भी खबर नहीं थी। अब मैं स्वसन्मुख होकर जागृत हुआ, इससे स्व-पर प्रकाशक ज्ञानशक्ति विकसित हुई, इससे अपने स्वभाव की और भगवान क्या कहना चाहते हैं—उसकी खबर पड़ी;—इस प्रकार धर्मी अपने निर्मल परिणामों को जानता है, परन्तु वह राग को ग्रहण नहीं करता, राग-सन्मुख उसकी बुद्धि नहीं है।

भव का कारण जो राग है, उस राग के अभावस्वभावरूप ज्ञाता-स्वरूप में अभेदरूप से परिणमन है, उसे धर्मी जानता है; इससे उसे भव की शंका नहीं रहती। धर्मी जीव अपने ज्ञाता स्वसन्मुख वीतरागी परिणाम को जानता है, परन्तु रागादि पर परिणामों को वह नहीं पकड़ता। धर्मी की द्रव्यसन्मुख दृष्टि है; जड़ की अवस्था को तो वह नहीं पकड़ता, परन्तु यहाँ तो शुभराग हो या व्यवहार का विकल्प उठे, वे भी परद्रव्य के परिणाम हैं, उन्हें भी ज्ञानी पकड़ता नहीं है—ग्रहण नहीं करता। धर्मी जीव तो स्वभावसन्मुख वीतरागी परणिामरूप ही होता है, और उसी को ग्रहण करता

है। परवस्तु को या राग को बदलना तो ज्ञानी मानते नहीं हैं, और अपनी निर्मल पर्याय को बदलने की ओर भी लक्ष्य नहीं है; द्रव्यस्वभाव के सन्मुख होने से पर्याय निर्मलरूप से बदल जाती है। धर्मी पर को–शरीर की क्रिया को नहीं बदलता, विकल्प को नहीं बदलता और जिस समय जो पर्याय होती है, उसे बदलने की बुद्धि नहीं है। अर्थात् उसे पर्याय पर की दृष्टि ही छूट गयी है। मात्र वस्तुस्वभावसन्मुख बुद्धि होने से राग को दूर करके वीतरागरूप से पर्याय पलट जाती है। कुछ भी फेरफार नहीं करना है। वस्तुस्वभाव को जैसे का वैसा रखकर स्वयं स्वभाव-दृष्टि से निर्मलरूप पलट जाता है। इसके अतिरिक्त पदार्थों में या अपनी अवस्था में कुछ फेरफार करना चाहे तो वह मिथ्यादृष्टि है। स्वभाव-सन्मुख दृष्टि होने से, शुद्धस्वभाव के सन्मुख जो श्रद्धा-ज्ञान की निर्मल पर्याय हुई, वह पर्याय स्वयं प्राप्यकर्म है, धर्मी आत्मा उसका कर्ता है।

जिस पर्याय में पुण्य-पाप या विकल्प की रुचि दूर होकर स्वभावोन्मुखता हुयी, वह निर्मल पर्याय प्राप्य है। द्रव्य में जिस समय वह निर्मल दशा होने योग्य थी, उस दशा को द्रव्य ने प्राप्त किया है, इससे वह प्राप्यकर्म है। स्वभावसन्मुख होने से वह निर्मलदशा प्राप्त हुई। वह निर्मल दशा व्याप्य है और आत्मा व्यापक है; आत्मा उस निर्मल पर्याय में द्रव्य द्वारा व्याप्त हुआ है; पर्यायबुद्धि द्वारा, राग द्वारा अथवा निमित्त द्वारा आत्मा निर्मल दशा में व्याप्त नहीं होता, परन्तु द्रव्य द्वारा ही व्याप्त नहीं होता, जो दशा परसन्मुख थी, वह पलटकर वस्तु स्वभाव-सन्मुख दशा हुई, वह दशा सम्यग्दृष्टि का प्राप्यकर्म है, अर्थात् वही धर्मी का धर्मकार्य है। इसके अतिरिक्त बाह्य में कहीं धर्मी का धर्मकार्य नहीं है।

देखो, यह सर्वज्ञ का शासन है, और यही वस्तुदर्शन है! अहो! शुद्ध चिदानन्द ज्ञाता हूँ, इस प्रकार स्वभाव-सन्मुख होकर जो वीतरागी श्रद्धा-ज्ञानरूप पर्याय प्रगट हुई, उसे धर्मी का प्राप्य कहते हैं। धर्मी जीव परिणमित होकर उस निर्मल दशा को ही प्राप्त करता है, इसके अतिरिक्त राग को, निमित्त को अथवा पर को प्राप्त नहीं करता। द्रव्य स्वयं प्रसरित होकर–फैलकर उस वीतरागी पर्याय में व्याप्त हुआ–प्रसारित हुआ है; इससे धर्मी आत्मा कर्ता और जो निर्मल पर्याय हुई, वह उसका कर्म है। राग उस धर्मी जीव का व्याप्य नहीं है।

'व्याप्य' लक्षण है और वीरागी परिणामरूपी कर्म वह लक्ष्य है; उसमें धर्मी जीव का द्रव्य स्वयं व्याप्त हुआ है। राग या निमित्त व्याप्त हुआ, वह धर्मी के धर्म-परिणामों का लक्षण नहीं है, अर्थात् राग या निमित्त प्रसारित होकर उसमें से वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान प्रगट हुए–ऐसा नहीं है। आत्मा स्वयं व्याप्त हुआ और निर्मल परिणाम व्याप्य हुए। वस्तु सन्मुख जो निर्मल पर्याय हुई, उस पर्याय में आत्मा ही व्याप्त हुआ है। जो रागादि भाव होते हैं, वह वास्तव में धर्मी आत्मा का व्याप्य नहीं

है, परन्तु जड़-पुद्गल का व्याप्य है। जिस जीव की दृष्टि राग के कर्तृत्व पर पड़ी है और राग को ही अपना व्याप्य समझता है–ऐसे मिथ्यादृष्टि का लक्ष्य पुद्गल पर ही है; इससे आचार्यदेव उसे अचेतन-जड़ के रूप में गिनकर कहते हैं कि राग पुद्गल का ही व्याप्य है।

धर्मी की दृष्टि आत्मस्वभाव-सन्मुख होने से जो निर्मल अवस्था प्रगट हुई, उसमें आत्मा परिणमित हुआ है। स्वभाव-सन्मुख होने से, पहले श्रद्धा-ज्ञान की जो दशा पर-सन्मुख थी, वह पलटकर स्वसन्मुख निर्मलदशा हुई, इससे वह विकार्य-कर्म है। ऐसी निर्मल विकार्य पर्याय में धर्मी आत्मा व्याप्त हुआ है। प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य–यह तीनों बोल एक ही परिणाम में लागू पड़ते हैं। द्रव्य के क्रम में जिन परिणामों के प्रगट होने का स्वकाल था, वे परिणाम प्रगट हुए और आत्मा ने उन्हें प्राप्त किया है, इससे वे परिणाम प्राप्य हैं। और पूर्व के परिणाम पलटकर वे निर्मल परिणाम नवीन प्रगट हुए–इस अपेक्षा से वही परिणाम विकार्य हैं। और पहले वे परिणाम नहीं थे तथा आत्मा ने नवीन उत्पन्न किया–इस अपेक्षा से वही परिणाम निर्वर्त्य है। इस प्रकार एक ही परिणाम में प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य–यह तीनों बोल लागू पड़ते हैं, उनमें समयभेद नहीं है। आत्मा ने स्वभावसन्मुख दृष्टि की, उस दृष्टिरूप निर्मल पर्याय स्वयं प्राप्य है और वही विकार्य है तथा वही निर्वर्त्य है। इस प्रकार प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य–ऐसा व्याप्य लक्षणवाला जो वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप कर्म है, उसमें आत्मा ही व्यापक है। उस वीतरागी निर्मल परिणामरूपी कर्म में आदि-मध्य और अन्त में आत्मा ही अन्तर्व्यापक होकर कर्ता होता है। पहले सम्यग्दर्शन तो आत्मा के आश्रय से हुआ, लेकिन फिर चारित्र तो पंचमहाव्रत के शुभराग से होता होगा न? – ऐसा कोई कहे तो कहते हैं कि–नहीं; शुभराग अन्तर्व्यापक होकर वीतरागी परिणाम नहीं हुए हैं, परन्तु वीतरागी परिणामरूपी धर्मकार्य में प्रारम्भ से अन्त तक आत्मा ही अन्तर्व्यापक होकर कर्ता होता है। द्रव्य और निर्मल पर्याय एक अभेद हो गये, इससे यहाँ 'अन्तर्व्यापक' कहा है। वास्तव में राग में आत्मा अन्तर्व्यापक नहीं है। द्रव्य ही अपने निर्मल वीतरागी परिणामों में व्याप्त हो गया, इससे धर्मी आत्मा स्वयं 'अन्तर्व्यापक' हुआ। यही कर्ता का कार्य है; ऐसा कार्य आत्मा करे, उसी का नाम धर्म है। व्यवहार अथवा निमित्त से धर्म नहीं होता; द्रव्य के आश्रय से निर्मल पर्याय प्रगट होने से धर्म होता है। निर्मल पर्याय स्वयं ही धर्मी का धर्मरूपी कर्तव्य हैं; उसके आदि–मध्य और अन्त में आत्मा ही अन्तर्व्यापक है। प्रारम्भ में निमित्त के लक्ष्य से विकल्प उठा, वह कहीं निर्मलदशा में व्यापक नहीं होता।

वस्तु की पर्यायें क्रमबद्ध–सर्वज्ञ भगवान के देखे अनुसार ही होती हैं, उनमें फेरफार नहीं होता। परवस्तु की पर्यायें अपने द्रव्य में से क्रमबद्ध होती हैं और मेरी पर्यायें अपने द्रव्य में से

क्रमबद्ध–जैसी हैं, वैसी होती हैं। इस प्रकार, अक्रम–ऐसे द्रव्य में बुद्धि हुए बिना क्रम का निर्णय नहीं होता। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय कहो, द्रव्य का निर्णय कहो, सर्वज्ञ का निर्णय कहो, द्रव्यदृष्टि कहो अथवा सम्यग्दर्शन कहो, तथा ज्ञायक-भाव कहो या यथार्थ पुरुषार्थ कहो,–इनमें से एक आये तो उसमें सब आ जाता है। सर्वज्ञ को अथवा क्रमबद्धपर्याय को स्वीकार करे तो द्रव्यदृष्टि की ओर उन्मुख होगा ही; इसके बिना सर्वज्ञ को या क्रमबद्धपर्याय को यथार्थ स्वीकार कर ही नहीं सकता।

'सर्वज्ञदेव ने देखा हो, वैसा होता है'–ऐसा सर्वज्ञ का निर्णय किया, वहाँ पूर्ण ज्ञान का निर्णय हुआ; इससे ऐसा निर्णय किया कि–अपूर्ण ज्ञान मेरा स्वरूप नहीं है, परन्तु पूर्णज्ञान मेरा स्वरूप है। अब यदि अपनी पर्याय सन्मुख देखे तो पर्याय में तो पूर्णज्ञान नहीं है, इससे द्रव्योन्मुख होता है। पूर्ण ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव की ओर उन्मुख होने से विकल्प टूटकर सम्यक्श्रद्धा हुई, उसका नाम अपूर्व सम्यक्दर्शन धर्म है। पहले अपूर्णता और विकार में ही पूर्णस्वरूप मानता था, वह मिथ्याश्रद्धा दूर होकर पूर्ण ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव के सन्मुख होकर उसकी श्रद्धा की; इसलिए अब अवस्था में अपूर्ण ज्ञान होने पर भी, सर्वज्ञ भगवान जैसे पूर्ण ज्ञाता-दृष्टा हैं, उसी प्रकार धर्मी जीव भी ज्ञाता-दृष्टा हुआ।

उपरोक्तानुसार वीतरागी श्रद्धा-ज्ञानरूप धर्मपरिणाम का प्रारम्भ हुआ, उसमें आदि में आत्मा ही व्यापक है। पहले व्यवहार था और वह व्यापक होकर धर्मदशा प्रगट हुई–ऐसा नहीं है। आत्मा व्यापक होकर निर्मल पर्याय विकसित हुई, तब विकल्प को व्यवहाररूप से जाना। इसके अतिरिक्त पहले व्यवहार से धर्म माने तो ऐसा व्यवहार तो अनादि से करता आ रहा है। जो अनादि से करता आ रहा है, उसे पहला कैसे कहा जाये? समयसार में अकेले व्यवहार को अनादिरूढ़ कहा है। जिसकी दृष्टि अकेले व्यवहार पर है, वह जीव अनादिरूढ़ व्यवहार में मूढ़ है। प्रारम्भ में आत्मोन्मुख होकर आत्मा अन्तर्व्यापक हुए बिना, अज्ञानी जीव धर्म के आदि में राग को और व्यवहार को अन्तर्व्यापक करना चाहता है, वह जीव अनादिरूढ़ ऐसे व्यवहार में मूढ़ है, उसे धर्म का आदि नहीं होता।

यह चौथी भूमिका की अर्थात् धर्म के लिए प्रथम भूमिका की बात है। चौथी भूमिका धर्म के प्रारम्भ की भूमिका है। यह समझे बिना धर्म का प्रारम्भ नहीं होता। पर की पर्याय अमुक प्रकार की हो तो मुझे ठीक पड़े, अथवा तो अमुक प्रकार का शुभभाव हो तो ठीक रहे – यह मिथ्यादृष्टि की बुद्धि है। आत्मा के स्वभाव पर दृष्टि पड़ने से निर्मलदशा प्रगट होकर उसमें आत्मा व्याप्त हुआ, वह धर्मी का धर्मकार्य है। आद्य में तो आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन हुआ, लेकिन मध्य

में तो पंचमहाव्रत के विकल्पादि से मुनिदशा बनी रहती है न?–ऐसी शंका कोई करे तो श्री आचार्यदेव कहते हैं कि–ऐसा नहीं है। जिस स्वभाव के आश्रय से धर्म का प्रारम्भ हुआ, उसी के आश्रय से धर्मदशा स्थित रहकर पूर्णता होती है। जिसे पहले से व्यवहार की रुचि और उल्लास है, उसे तो धर्म का प्रारम्भ भी नहीं होता, तब फिर मध्य और अन्त में क्या होता है–उसकी उसे क्या खबर पड़ेगी?

प्रारम्भ से ही धर्मी जीव ने जिस स्वभाव के आश्रय से प्रस्थान किया है, उसी के आश्रय से पर्याय परिणमित होती रहती है; बीच में राग और विकल्प आयें, उनके अभावस्वभावरूप परिणमन होता है। शास्त्र भी पर हैं। सच्चे शास्त्रों को पढ़ने के लक्ष्य से भी स्वभावसन्मुख दृष्टि नहीं होती। अस्तिस्वभाव के सन्मुख दृष्टि हुए बिना शास्त्र–सन्मुखता की दृष्टि नहीं हटती। परोन्मुखता को भूलना कहना नास्ति से कथन है, परन्तु किस स्थान पर अस्ति रखकर उसे भूलेगा? अनन्त गुणों के चैतन्य-पिण्ड अस्तिस्वभाव के सन्मुख दृष्टि होने पर परसन्मुखता छूट जाती है। ऐसी दृष्टि के बिना धर्म हो–ऐसा वस्तुस्वभाव में नहीं है। 'हमारा सर्वस्व चला जायेगा'–ऐसी पुकार यदि अज्ञानी करते हों तो भले करें, लेकिन वस्तु तो ऐसी ही है। वस्तु स्वयं ही अपनी घोषणा कर रही है।

अपने आत्मा के अतिरिक्त सर्वज्ञ को बीच में ले कि–सर्वज्ञ भगवान के आश्रय से मेरा हित होगा, भगवान की भक्ति से मेरा कल्याण होगा–ऐसा माने तो भी आत्मा की निर्मलता प्रगट नहीं हो सकती। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा सर्वज्ञशक्ति का पिण्ड स्वयं भगवान है, उसकी दृष्टि और एकाग्रता करके वही स्वयं वीतरागी धर्मरूप परिणमित होकर आदि–मध्य-अन्त में व्याप्त होता है। धर्मी को अपने स्वभाव की दृष्टि हुई, वहाँ द्रव्य स्वयं रागरूप न होने से वीतरागी परिणामरूप होकर उसमें व्याप्त हुआ। पर्यायबुद्धि में जो राग की योग्यता थी, वह द्रव्यबुद्धि होने से छूट गयी, इससे वीतरागी श्रद्धा, ज्ञान और अंशतः चारित्ररूप परिणाम प्रगट हुए, वह द्रव्य का स्वकाल है, द्रव्य के स्वकाल में वह अवस्था थी, उसे द्रव्य ने प्राप्त किया है, इससे वह प्राप्य है। यहाँ निर्मल पर्याय को प्राप्यकर्म कहा है, क्योंकि वह निर्मल पर्याय अपने स्वकाल में हुई, तब द्रव्य ने उसे प्राप्त किया है। किसी राग में या पूर्व की पर्याय में उस निर्मल पर्याय को प्राप्त करने की शक्ति नहीं थी। बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय की पर्याय तेरहवें गुणस्थान के पहले समय की पर्याय को प्राप्त करती है–ऐसा नहीं है। द्रव्य स्वयं ही अपनी निर्मल पर्यायों को प्राप्त करता है, और जो निर्मल अवस्था हुई, वह द्रव्य का प्राप्य है। यहां निर्मल अवस्थ को द्रव्य का व्याप्य कहकर आचार्यदेव यह बतलाते हैं कि त्रिकाल और वर्तमान एक हुए, अर्थात् द्रव्य और निर्मल पर्याय

अभेद होते जाते हैं। राग द्रव्य में अभेद नहीं होता, परन्तु निर्मलदशा, द्रव्य में अभेद होती जाती है। यही धर्मी का धर्मकार्य है।

स्वभावदृष्टि होने के पश्चात् साधकदशा में बीच में राग आ आता है, तथापि उस समय भी धर्मी जीव उस राग में व्याप्त नहीं है; किन्तु द्रव्य के आश्रय से हुए वीतरागी परिणाम में ही व्याप्त हुआ है। जो राग का समय है, उसी समय आत्मा, निर्मल परिणति को पकड़कर उसमें अभेद हुआ है। पूर्व की पर्याय आदि में थी, इसलिए निर्मल पर्याय हुई–ऐसा नहीं है, परन्तु द्रव्य ही आदि में है; द्रव्य के आश्रय से प्रत्येक पर्याय स्वतन्त्र है। प्रत्येक पर्याय स्वतन्त्र है-निरपेक्ष है–ऐसा मानने में द्रव्य का ही आश्रय आता है। (यहाँ ऐसा कहा है कि निर्मल पर्याय के आदि में द्रव्य ही है; इससे प्रथम द्रव्य और फिर निर्मल पर्याय–ऐसा समयभेद नहीं समझना चाहिए। द्रव्य और निर्मल पर्याय की समय भेद नहीं है, परन्तु निर्मल पर्याय, द्रव्य के ही आश्रय से होती है–ऐसा बतलाने के लिए वह आदि में है–ऐसा कहा है।)

आत्मा स्वभावसन्मुख रहकर अपने वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र परिणामरूप उत्पन्न हुआ, उन वीतरागी परिणामों को प्राप्त किया तथा पूर्व पर्याय बदलकर वे नये परिणाम किये,–इस प्रकार एक ही परिणाम को निर्वर्त्य, प्राप्य और विकार्य–ऐसे तीन प्रकार से समझाया है,–कहीं तीन परिणाम पृथक् नहीं हैं। भगवान आत्मा स्वयं ही स्वसन्मुख वीतरागी श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र पर्याय प्रगट करके उसमें स्वयं ही व्याप्त होता है। अनन्तशक्ति का पिण्ड आत्मा स्वयं विकास को प्राप्त होकर निर्मल पर्याय होती है।

जिस प्रकार गुलाब का फूल खिलता है, उसके आदि में गुलाब की कली है–सूर्य नहीं है। सूर्य खिलकर गुलाब का फूल नहीं होता, परन्तु गुलाब की कली विकसित होकर गुलाब का फूल होता है, उसी प्रकार भगवान चैतन्यस्वभाव की पहले ही-संकुचित दशा थी, वह स्वभाव की दृष्टि होने से खिलती है–विकसित होती है;–उसका कारण द्रव्य है; किसी निमित्त के कारण अवस्था का विकास नहीं होता। द्रव्य स्वयं ही विस्तृत होकर जो निर्मल अवस्था होती है, उसे ग्रहण करता है। 'द्रव्य अवस्था को ग्रहण करता है'–ऐसा भेद तो समझाने के लिए कथन है; कहीं आत्मा और निर्मल परिणाम भिन्न नहीं हैं–अभेद हैं। आत्मा स्वयं उन परिणामोंरूप परिणमित हो गया,–इससे ऐसा कहा जाता है कि आत्मा ने उन परिणामों के ग्रहण किया। पहले परिणाम हुए और फिर आत्मा ने उन्हें ग्रहण किया–ऐसा नहीं है।

जो रागादि विकार होते हैं, वह आत्मा नहीं है और वास्तव में आत्मा उन रागादि को ग्रहण नहीं करता। नवतत्त्वों में पुण्य-पापतत्त्व भिन्न हैं और जीवतत्त्व भिन्न है। जीवतत्त्व में पुण्य-

पापतत्त्वों का अभाव है। जीवद्रव्य के सन्मुख होकर जो सम्यक्श्रद्धा–ज्ञान और अंशतः वीतरागी परिणाम होते हैं, उनका आत्मा कर्ता है, इसके अतिरिक्त अन्य का कर्ता आत्मा नहीं है। आत्मा ने पर का कार्य किया अथवा शरीर की क्रिया की या आहार का ग्रहण-त्याग किया–ऐसा कहना वह सब बोलने का कथन है, वास्तव में वस्तु का स्वरूप ऐसा नहीं है, इसलिए वह व्यभिचारी वाणी है। एक-दूसरे का सम्बन्ध बतलाकर वह वाणी कथन करती है, इसलिए वह व्यभिचारी वाणी है।

धर्मी आत्मा द्वारा कौन-सा कार्य किया जाता है? वह बात हुई। शरीर के या पर के कार्य तो कोई आत्मा करता ही नहीं है। राग-द्वेषरूपी कर्म को धर्मी जीव नहीं करता; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणामस्वरूप जो कर्म है, वह आत्मा द्वारा किया जाता है। यहाँ 'आत्मा' कहने से निर्मलपर्यायरूप परिणमित हुआ आत्मा लेना चाहिए। किसी निमित्त द्वारा अथवा रागादि के विकल्प द्वारा वह निर्मलदशारूपी कर्म नहीं किया जाता, क्योंकि वे आत्मा नहीं हैं। सर्वज्ञता प्रगट करने की शक्ति आत्मा में भरी हुई है, उस पर दृष्टि पड़ने से ज्ञाता-दृष्टा की वीतरागी दशा विकसित होने लगती है और निर्मलता बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञान प्रगट होता है। इस प्रकार धर्मरूपी निर्मल कार्य, वस्तु की दृष्टि से प्रगट होता है, और वह कार्य, आत्मा द्वारा किया जाता है। धर्मी जीव प्रति-समय ऐसा कार्य करता है।

श्री सद्गुरु-उपदेश

(राग तिलक छन्द)

समझ उर धर कहत गुरुवर, आत्मचिन्तन की घड़ी है;
भवउदधि तन अथिर नौका, बीच मंझधारा पड़ी है।
आत्म से है पृथक् तन धन, सोच रे! मन कर रहा क्या?
लखि अवस्था कर्म जड़ की, बोल उनसे डर रहा क्या? समझ..१

ज्ञान- दर्शन- चेतना सम, और जग में कौन है रे?
दे सके दुःख जो तुझे, वह शक्ति ऐसी कौन है रे?
कर्म सुख - दुःख दे रहे हैं, मान्यता ऐसी करी है;
दूर कर दृष्टि पराधिन, चेत, शुद्ध श्रद्धान कर ले! समझ..२

जिस समय हो आत्मदृष्टि, मोह थरथर कांपता है;
भाव की एकाग्रता लखि, छोड़ खुद ही भागता है;
ले समझ से काम या, फिर चतुर्गति ही में विचरले;
मोक्ष अरु संसार क्या है, फेसला खुद ही समझले।
दूरकर दुविधा हृदय से, फिर कहाँ धोखाघड़ी है! समझ..३

सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी, सदा यह कह रहे हैं;
समझना खुद ही पड़ेगा, भाव तेरेबह रहे हैं।
शुभक्रिया को धर्मा माना, भव इसी से धर रहा है;
है न पर से भाव तेरा, भाव खुद ही कर रहा है।
है निमित्त पर दृष्टि तेरी, टेव कुछ ऐसी पडी है! समझ..४

भाव की एकाग्रता रुचि, लीनता पुरुषार्थ करलें;
मुक्ति - बन्धनरूप क्या है, यह समझ उर बीच धर ले।
भिन्न हूँ पर से सदा, इस मान्यता में लीन हो जा;
द्रव्य-गुण-पर्याय-ध्रुवता, आत्मसुख चिर नींद सोजा;
आत्म-अनुमप-अचल-गुणधर, शुद्ध रत्नत्रय जड़ी है। समझ..५

[यह कविता 'वस्तुविज्ञानसार' और 'मूल में भूल' आदि पुस्तकें पढ़कर कुरावली (मैनपुरी यू.पी.) निवासी 'निर्भय' गुणधरलाल जैन ने सोनगढ़ आने से पहले बनायी थी और प्रथम इटावा में गायी थी।]

भगवान श्री कुन्दकुन्द महान जैन शास्त्रमाला के

५१ पुष्प

वीर सं-२४७१ में स्थापित 'भगवान श्री कुन्दकुन्द कहान जैन शास्त्रमाला' द्वारा अभी तक गुजराती तथा हिन्दी भाषा में ५१ पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, वे निम्नानुसार हैं –

(१)	समयसार प्रवचनो भाग-१	३-०-०
(२)	समयसार प्रवचनो भाग-३	३-०-०
(३)	पूजा-संग्रह (त्रीजी आवृत्ति)	०-१०-०
(४)	छहढ़ाला (बीजी आवृत्ति)	०-१४-०
(५)	समवसरण स्तुति (त्रीजी आवृत्ति)	०-५-०
(६)	अमृतझरणां (-मुक्तिनो मार्ग) (बीजी आवृत्ति)	०-६-०
(७)	जिनेन्द्र स्तवनावली (चौथी आवृत्ति)	०-८-०
(८)	नियमसार प्रवचनो	१-८-०
(९)	आत्मसिद्धि	०-२-०
(१०)	जैन सिद्धांत प्रवेशिका (चौथी आवृत्ति)	०-८-०
(११)	समयसार प्रवचनो भाग २	१-८-०
(१२)	आत्मसिद्धि (अर्थ सहित)	०-४-०
(१३)	मुक्ति का मार्ग (हिंदी)	०-१०-०
(१४)	धर्मनी क्रिया (बीजी आवृत्ति)	१-८-०
(१५)	सत्स्वरूप अने अनुभवप्रकाश (बीजी आवृत्ति)	१-०-०
(१६)	सम्यग्ज्ञान दीपिका (सचित्र)	१-०-०
(१७)	मोक्षशास्त्र गुजराती टीका (बीजी आवृत्ति)	३-८-०
(१८)	समयसार-प्रवचनो भाग ४	३-०-०
(१९)	मूल में भूल (हिंदी)	०-१२-०
(२०)	द्रव्यसंग्रह (बीजी आवृत्ति)	०-७-०
(२१)	बाल-रामायण (पद्मपुराण) (अप्राप्य)	०-६-०
(२२)	समयसार हरिगीत (पाँचमी आवृत्ति)	०-४-०
(२३)	जिनेन्द्र स्तवनमंजरी (बीजी आवृत्ति)	२-०-०
(२४)	सर्वसामान्य प्रतिक्रमण (त्रीजी आवृत्ति)	०-८-०
(२५अ)	वस्तुविज्ञानसार	भेंट
(२५ब)	वस्तुविज्ञानसार (हिंदी)	भेंट
(२६)	आत्मसिद्धि-प्रवचनो (त्रीजी आवृत्ति)	३-८-०

(२७)	सामायिक	०-४-०
(२८)	मोक्षमार्गप्रकाशनां किरणो	०-१२-०
(२९)	योगसार (दोहा)	०-२-०
(३०)	नन्दीश्वरद्वीप पूजन (हिंदी)	०-१२-०
(३१)	पंचाध्यायी गुजराती भाग १	३-८-०
(३२)	पंचाध्यायी गुजराती भाग २	४-०-०
(३३)	प्रवचनसार-गुजराती	२-८-०
(३४)	प्रवचनसार हरिगीत	०-५-०
(३५)	मूलमां भूल (उपादान-निमित्त संवाद)	१-०-०
(३६)	दसलक्षणधर्म–प्रवचनों	०-१२-०
(३७)	योगसार तथा उपादान-निमित्त दोहा	०-३-०
(३८)	जैन सिद्धान्त प्रवेशिका (अध्याय-१)	०-२-०
(३९)	भेद-विज्ञानसार	१-४-०
(४०)	मोक्षमार्ग प्रकाशक (त्रीजी आवृत्ति)	४-०-०
(४१)	सम्यग्दर्शन	१-४-०
(४२)	दशलक्षण धर्म प्रवचन (हिंदी)	०-१२-०
(४३)	जैनबाल पोथी (त्रीजी आवृत्ति)	०-४-०
(४४)	मोक्षमार्गप्रकाशक (हिंदी)	१-६-०
(४५)	प्रवचनसार गुटको	०-४-०
(४६)	आलोचना (बीजी आवृत्ति)	०-२-०
(४७)	चिद्विलास (गुजराती)	छपाई छे
(४८अ)	समयसार प्रवचन भाग १ (हिंदी)	६-०-०
(४८ब)	समयसार प्रवचन भाग २ (हिंदी)	प्रेस में
(४९)	समयसार गुटको (त्रीजी आवृत्ति)	०-१२-०
(५०)	जैन बालपोथी (हिंदी)	प्रेस में
(५१)	पंचकल्याणक प्रवचनो	छपाई छे

आत्मधर्म फाइल वर्ष १–२–३ हिन्दी और गुजराती प्रत्येक का ३–१२–०

– डाक खर्च अलग –

पुस्तकें मिलने का पता –

श्री जैन स्वाध्यायमंदिर

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुमुक्षुओं को सेवन करने योग्य दो साधन

आत्मस्वभाव की निर्मलता के लिए मुमुक्षु जीव को दो साधन अवश्य सेवन करने योग्य हैं :– सत्श्रुत और सत्समागम। प्रत्यक्ष सत्पुरुष का समागम कचित् कचित् जीव को प्राप्त होता है, परन्तु यदि जीव सत्दृष्टिवान हो तो सत्श्रुत के अधिक काल के सेवन से होनेवाला लाभ प्रत्यक्ष सत्पुरुष के समागम से बहुत ही अल्पकाल में प्राप्त कर सकता है। क्योंकि प्रत्यक्ष गुणातिशयवान निर्मल चेतन के प्रभावाले वचन और वृत्ति क्रिया चेष्टितपन है। जीव को वैसा समागम योग प्राप्त हो– ऐसा विशेष प्रयत्न कर्तृव्य है। वैसे योग के अभाव में सत्श्रुत का परिचय अवश्य ही करने योग्य है। जिसमें शान्तरस की मुख्यता है, शान्तरस के हेतु से जिसका समस्त उपदेश है, सर्व रसों का जिसमें शान्त रस गर्भित वर्णन किया है – ऐसे शास्त्रों का परिचय वह सत्श्रुत का परिचय है।

(श्रीमद् राजचन्द्र)

धार्मिक-दिवस

मुमुक्षुओं की अनुकूलता के लिए सोनगढ़ में प्रतिवर्ष जिस प्रकार धार्मिक दिवस माने जाते हैं, उसी प्रकार इस वर्ष भी ताः ९-९-५० भाद्रपद कृष्णा १२ शनिवार से ताः १६-९-५० भाद्रपद शुक्ला ५ शनिवार तक धार्मिक दिवस माने जायेंगे।

श्री जैन अतिथि सेवासमिति की वार्षिक मीटिंग भाद्रपद शुक्ला २ ताः १३-९-५० बुधवार के दिन शाम को पाँच बजे होगी।

अवश्य पढ़िये!

पूज्य श्री कानजीस्वामी द्वारा भगवत् श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत ग्रन्थों पर,
एवं अन्य अध्यात्मग्रन्थों पर किये गये विस्तृत विवेचन :-

समयसार-प्रवचन (प्रथम भाग)

निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की प्ररूपणा, पृष्ठ ४८८, पक्की जिल्द, मूल्य छह रुपये, डाकव्यय दस आने अतिरिक्त।

मुक्ति का मार्ग

अरिहन्तदेव का स्वरूप और सर्वज्ञसिद्धि पर युक्तिपूर्ण विवेचन ग्रन्थ। मूल्य दस आने, डाकव्यय माफ।

मूल में भूल

उपादान-निमित्त संवाद को लेकर अद्भुत विवेचनपूर्ण ग्रन्थ। मूल्य बारह आने, डाकव्यय माफ।

आत्मधर्म की फाइलें

प्रथम वर्ष-पृष्ठ १८८, प्रवचन २००। द्वितीय वर्ष पृष्ठ २१६, प्रवचन १०८। तृतीय वर्ष पृष्ठ २५०, प्रवचन १२५। प्रत्येक वर्ष की सजिल्द फाइल का मूल्य पौने चार रुपये।

आत्मधर्म (मासिकपत्र)

अध्यात्मिक प्रवचनों का अपूर्व संग्रह जो आपके हाथ में है। वार्षिक मूल्य तीन रुपये।

—: मिलने का पता :—

1- श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

2- अनेकान्त मुद्रणालय,
मोटा आंकड़िया (सौराष्ट्र)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचन्द रवाणी, शिष्टसाहित्य मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-सौराष्ट्र
प्रकाशक : जमनादास माणेकचन्द रवाणी, अनेकान्त मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-सौराष्ट्र